कहानी

ज़िग्मोंद मोरित्ज़

ईश्वरदर्शी देवताओं ने निर्धनों को भी हंसी का वरदान दे दिया है। झुग्गी-झोंपड़ियों के किराएदार हर वक्त रोते-झींकते नहीं रहते, अक्सर उनकी बस्तियों से अट्टहास भी गूंज उठता है। मैं तो यहां तक कह सकता हूं कि निर्धन अक्सर ऐसी बातों पर हंस पड़ते हैं जिन पर रुलाई आनी चाहिए।

मैं उस दुनिया से भली भांति परिचित हूं। शोश कबीले की जिस पीढ़ी ने मेरे पिता को जन्म दिया था वह गरीबी की कठोरतम अवस्थाओं में से गुज़र चुकी थी। मेरे पिता एक मशीन घर में दिहाड़ी मज़दूर के रूप में काम करते थे। उनके

या और किसी के भी लिए उन दिनों ऐसा कुछ न था जिसकी डींग हांकी जाए (फिर भी वे डींग तो हांकते ही थे)।

और यह नितान्त सच है कि अपने बचपन के उन वर्षों में मैं जितना हंसता था उतना अपनी ज़िन्दगी में और कभी नहीं हंसा।

सच तो यह है कि मैं फिर कभी उतना जी खोलकर हंस भी कैसे सकता था, क्योंकि तब तक मैं अपनी उन हंसमुख, लाल गालों वाली मां को खो बैठा था जो इतने मीठे ढंग से हंसती थीं कि अन्त में उनके गालों से आंसू झरने लग जाते थे और उनकी हंसी की समाप्ति खांसी के ऐसे दौरे से होती थी जिससे उनका गला घुटने लग जाता था।

पर वे भी जितनी उस शाम को हंसी थीं जब हम सात पैसे खोज रहे थे, उतनी और कभी नहीं हंसी। हम खोजते रहे, और हम पैसे पा भी गए थे। तीन पैसे तो सिलाई की मशीन के दराज़ में थे, एक बर्तनों की अलमारी में था.... बाकी को खोजना ज़्यादा मुश्किल काम था।

पहले तीन पैसे तो मेरी मां ने अपने-आप ही ढूंढ़ निकाले। उनका ख्याल था कि दराज़ में और भी सिक्के होने चाहिए, क्योंकि वे सिलाई करके पैसे कमाती रहती थीं और जो कुछ भी कमातीं दराज़ में डाल देतीं। सिलाई-मशीन की दराज़ मुझे अनन्त सोने की खान जान पड़ती थी, जब भी हम उसमें हाथ डालते हमारी मुरादें पूरी हो जातीं।

यही कारण है कि जब मैंने मां को सुइयों, कैंचियों, रिबन के टुकड़ों, बटनों और बेलों के अम्बार को कुरेदते देखा और थोड़ी देर तक उलट-पुलट करने के बाद उन्हें ताज्जुब से यह कहते सुना कि "न जाने कहां जा छिपे हैं" तो

सभी चित्रः उदय खरे

मैं भौंचक्का रह गया।

"कौन?"

"सिक्के," उन्होंने हंसते हुए कहा।

उन्होंने दराज़ खींच निकाला।

"आना बिट्टू, ज़रा उन बदमाशों को खोज निकालें। कितने शैतान हैं ये सिक्के!" वे ज़मीन पर बैठ गईं और दराज़ इतने एहतियात से नीचे रक्खा मानो उन्हें डर हो कि उसकी चीज़ें कहीं उड़ न जाएं; तब उन्होंने बड़ी खूबसूरती से उसे औंधाया, मानो वे हैट में तितलियां पकड़ रही हों।

उनके इस नाटक पर हंसे बिना नहीं रहा जा सकता था।

"इसी में तो हैं वे, इसी में," उन्होंने खिलखिलाकर कहा, और दराज़ उठाने की उन्हें कोई जल्दी न थी। "एक भी पैसा होगा तो इसी में होना चाहिए।"

मैं पंजों के बल बैठ गया और ध्यान से देखने लगा कि कोई चमकीला सिक्का निकलता है या नहीं। कोई हरकत नहीं हुई।

सच पूछिए तो हममें से किसी को भी यह यकीन न था कि उसमें एक भी सिक्का है।

अपने इस बचपने पर हंसते हुए हम एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे। मैंने औंधे पड़े दराज़ को हाथ लगाया।

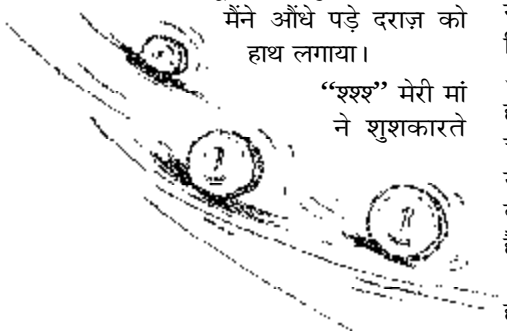

"श्श्श" मेरी मां ने शुशकारते हुए मुझसे कहा, "नीचे बैठे रहो बिट्टू, नहीं तो वे भाग जाएंगे। तुम क्या जानो पैसे कैसे उड़न छू होते हैं। वे इतनी तेज़ी से भागते हैं कि बस लुढ़कते ही चले जाते हैं। ऐसा गज़ब करते हैं कि बस...."

हंसी के मारे हमारे पेट में बल पड़ गए। हम बहुत बार देख चुके थे, पैसे कितनी आसानी से लुढ़कते जाते हैं।

जब हंसी का दौर खत्म हुआ तब फिर मैंने दराज़ उठाने के लिए हाथ बढ़ाया।

"खबरदार!" मां चीख पड़ी और मैंने झट से अपनी उंगलियां खींच लीं, मानो मेरा हाथ चूल्हे पर जा पड़ा हो।

"आहिस्ता, उड़ाऊ कहीं के! उन्हें भगाने की ऐसी क्या जल्दी है? जब तक वे पिटारी में बंद पड़े हैं, तभी तक वे अपने हैं। और थोड़ी देर बने रहने दो। क्योंकि तुम जानो, मुझे कुछ कपड़े धोने हैं, इसके लिए साबुन की दरकार है और साबुन के लिए मेरे पास कम-से-कम सात पैसे ज़रूर होने चाहिए, इससे कम में तो आएगा नहीं। तीन तो मुझे मिल गए हैं, चार और चाहिए। वे इसी नन्हे-से घर में होने चाहिए। वे इसी में तो रहते हैं, पर उन्हें छेड़छाड़ पसंद नहीं। और अगर कहीं नाराज़ हो गए तो वे गायब हो जाएंगे और फिर कभी हमारे हाथ नहीं आने के। आहिस्ता, भैया, रुपया बड़ी नाज़ुक चीज़ होती है, उसे मुलायमियत से हाथ लगाना चाहिए। वह इज़्ज़त पसंद होता है। चट से बुरा मान जाता है, तुनकमिज़ाज लेडी की तरह.... तुम्हें कोई तुकबन्दी याद नहीं है जो उसे घर से बाहर खींच लाए?"

उफ, उनकी चबर-चबर पर हम कैसे हंसे थे! मैंने जो स्तुति छेड़ी वह सचमुच

अजीब थी। वह इस तरह थी :

"चाचा सिक्के, झूठ न समझो

तेरे घर में आग लगी है।"

इतना कहकर मैंने दराज़ फिर से सीधा कर दिया।

उसके नीचे हर तरह की रद्दी चीज़ें थीं, पर सिक्के..... एक भी नहीं।

मेरी मां मुंह बिगाड़कर ढेर को कुरेदती ही रहीं, पर उससे क्या बनता।

"कितने दुख की बात है," उन्होंने कहा, "कि हमारे यहां कोई मेज़ नहीं है। अगर यह दराज़ मेज़ पर औंधाया जाता तो ज़्यादा अच्छा लगता और तब सिक्के भी टिके रहते।"

मैंने सारी चीज़ें समेटकर फिर से दराज़ में भर दी। इस बीच मां सोच में डूबी रहीं। वे अपने दिमाग पर सारा ज़ोर लगाकर सोचती रहीं कि उन्होंने और कहीं तो कुछ और पैसे नहीं डाल रक्खे हैं, पर उन्हें कुछ भी याद न आया।

अचानक मुझे एक बात सूझ गई।

"मां, मुझे एक जगह मालूम है जहां एक सिक्का है।"

"कहां बिट्टू? चलो उसे पकड़ लें, कहीं बाद में बरफ की तरह पिघल न जाए।"

"कांच की अलमारी के दराज़ में पहले एक पैसा पड़ा रहता था।"

"वाह मुन्ने! अच्छा हुआ तुमने पहले नहीं बताया, नहीं तो वह अब तक रहता थोड़े ही।"

हम उठे और उस अलमारी तक गए जिसका कांच न जाने कब का गायब हो चुका था; पैसा सचमुच उसी दराज में था जैसा मेरा ख्याल था। पिछले तीन दिनों से मेरे मन में उसे उड़ाने की लगी हुई थी पर मैं इतनी हिम्मत नहीं जुटा पाया। हिम्मत पड़ गई होती तो मैंने टॉफी पर खर्च कर दिया होता।

"अब अपने पास चार पैसे तो हो गए। कोई फिकर नहीं बिट्टू, आधे से ज़्यादा तो हो ही चुके हैं। बस अब हमें तीन और चाहिए। और अगर एक घंटे में हमने चार ढूंढ निकाले तो बाकी तीन तो नाश्ते के पहले ही मिल जाएंगे। इस हिसाब से रात होने के पहले मैं मज़े से कपड़े धो लूंगी। चलो देखें, शायद उन दराज़ों में भी कुछ पड़े हों।"

अगर हर दराज़ में एक पैसा होता तो सब ठीक हो जाता। इतने पैसों की तो हमें ज़रूरत न थी। क्योंकि जब यह पुरानी अलमारी अपने जोबन पर थी तब इसने एक अमीर घराने की सेवा की थी, जहां इसने बड़े-बड़े खज़ाने देखे थे। पर हमारे घर में बेचारी को खास कुछ न मिल सका - उसके अंजर-पंजर ढीले हो गए थे, घुन लग गई थी और वह पोपली हो गई थी।

मां एक-एक दराज़ खोलतीं और झिड़कती जातीं।

"यह तो किसी ज़माने में अमीर हुआ करता था। इस बेचारे को तो कभी कुछ न मिला। यह वाला तो हमेशा खनखनाहट पर ही जीता आया है। और तुम, भिखमंगे कहीं के, तुम्हारे पास तो एक कच्चा भी नहीं है। इसमें कभी कुछ नहीं होगा, इसमें तो हम अपनी गरीबी रखते हैं। और तुम, तुम्हारा क्या हाल है? राम करे तुम्हें कभी कुछ न मिले; मैंने बस आज ही तुमसे

एक पैसा मांगा और फिर भी तुम मुंह बिगाड़ रहे हो। यह ज़रूर सबसे ज़्यादा अमीर होगा। देखो न!" जैसे ही उन्होंने सबसे निचले दराज़ को झटके से खोला त्यों ही उनकी हंसी फूट पड़ी क्योंकि उसके पेंदे में एक छिपटी भी न थी।

वे मेरी गर्दन से लटक गईं और हम दोनों ऐसे बेतहाशा हंस पड़े कि ज़मीन पर बैठ जाना पड़ा।

"ज़रा रुको," वे चौंकी, मैं चुटकी बजाते पैसे ले आती हूं। तुम्हारे पिता के कपड़ों में ज़रूर होंगे।

दीवार पर कुछ कीलें थीं जिन पर हमारे कपड़े टंगते थे।

मेरी मां ने पिताजी की जैकट की सबसे ऊपर वाली जेब टटोली, और गज़ब की बात तो देखो कि उनकी उंगलियां एक पैसा खींच लाईं। उन्हें अपनी आंखों पर विश्वास न हुआ।

"हाय, मैं मर गई" वे चीखीं, "यह लो। अब कुल कितने हो गए? अब तो गिनना भी मुश्किल पड़ रहा है। एक-दो-तीन-चार-पांच...पांच! बस अब दो और चाहिए। दो पैसे, कोई बड़ी बात नहीं। जब पांच हो गए तो और तो हो ही जाएंगे।" वे हड़बड़ाती हुई पिताजी की सारी जेबें टटोलती रहीं। पर अफसोस, सब

बेकार। और कोई पैसा न मिला। बढ़िया-से-बढ़िया मज़ाक भी और दो पैसों को आकृष्ट न कर सका।

मेरी मां के गाल उत्तेजना और थकान के मारे लाल गुलाबों की तरह दमकने लगे। उन्हें काम करने की मनाही थी क्योंकि वे जब भी काम करती थीं, बीमार पड़ जाती थीं। यह तो खैर एक खास ढंग का काम था और आप, लोगों को पैसों की तलाश करने से थोड़े ही रोक सकते हैं।

नाश्ते का वक्त आया और निकल गया। अंधेरा होने को ही था। मेरे पिताजी को सबेरे के लिए एक धुली हुई कमीज़ की ज़रूरत थी और धुलाई संभव न थी। केवल कुएं के पानी से चिकना मैल दूर नहीं हो सकता था।

अचानक मां ने अपना माथा थपथपाया।

"मैं भी कैसी मूर्ख हूं। अपनी जेब देखने का तो ख्याल ही नहीं आया! अब मैं सोचती हूं, ज़रा टटोल देखूं।"

उन्होंने अपनी जेब टटोली और निस्संदेह उसमें एक पैसा था। छठा पैसा। हमें सचमुच बुखार चढ़ आया। बस सिर्फ एक ही पैसे की कसर थी।

"ज़रा मैं तो देखूं तुम्हारी जेबें, शायद उनमें कोई हो।"

हे राम, उन्हें दिखाने से क्या होना था, वे तो खाली थीं।

अंधेरा हो चला था और हम अपने छह पैसे लिए बैठे थे। इससे तो अच्छा था कि एक भी न होता। यहूदी मोदी उधार नहीं देता था, और हमारे पड़ोसियों की हालत हम-जैसी ही थी। वैसे भी, भला कोई एक पैसा मांगने भी जाता है!

हम बस यही कर सकते थे कि अपनी दशा पर खुलकर हंस लें।

अभी हम हंस ही रहे थे कि एक भिखमंगा आ पहुंचा। वह रुआंसे स्वर में भजन गाता हुआ भीख मांग रहा था।

मां हंसते-हंसते प्रायः बेसुध हो गईं।

"अरे भैया, बस भी करो," उन्होंने कहा, "बेकार में मेरी तो सारी शाम निकल गई। आधा पौंड साबुन मोल लेना है, पर एक पैसे की कमी पड़ गई है।"

वह दयालु बुड्ढा भिखमंगा उनकी ओर घूरकर देखता रहा।

"क्या कहा, तुम्हें एक पैसे की कमी है?"

"हां, एक पैसे की।"

"मैं दिए देता हूं।"

"वाह, कहीं भिखारी से भी भीख ली जाती होगी!"

"कोई बात नहीं बिटिया, मैं इसका करूंगा भी क्या। मुझे ज़मीन में एक गड्ढा और थोड़ी-सी मिट्टी के अलावा और चाहिए भी क्या। बस फिर मुझे कोई झंझट न रहेगा।"

उसने मेरे हाथ पर एक पैसा रख दिया और हमारी दुआओं के बीच ही खिसकता बना।

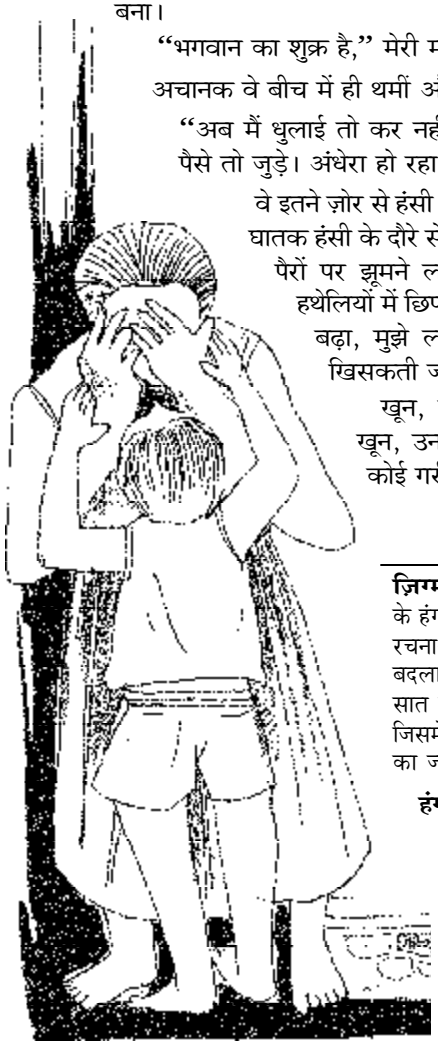

"भगवान का शुक्र है," मेरी मां बोली, "चलो, अब झटपट..."

अचानक वे बीच में ही थमीं और खिलखिलाकर हंसने लगीं।

"अब मैं धुलाई तो कर नहीं पाऊंगी, पर खैर चलो। किसी तरह पैसे तो जुड़े। अंधेरा हो रहा है और लालटेन में तेल नहीं है।"

वे इतने ज़ोर से हंसी कि उनका दम फूल गया। एक भंयकर, घातक हंसी के दौरे से उनकी सारी देह हिलने लगी। वे अपने पैरों पर झूमने लगीं और उन्होंने अपना चेहरा अपनी हथेलियों में छिपा लिया और ज्यों ही मैं थामने को आगे बढ़ा, मुझे लगा मेरे हाथों पर से कोई गर्म चीज़ खिसकती जा रही है।

खून, कीमती चमकदार खून। मेरी मां का खून, उनका जो इतना खुलकर हंसती थीं कि कोई गरीब भी क्या हंसेगा!

ज़िग्मोंद मोरित्ज़ (1879-1942): 19वीं सदी के हंगरी साहित्य में प्रमुख स्थान रखते हैं। उनकी रचनाओं में हंगरी के तत्कालीन आर्थिक-सामाजिक बदलावों को आसानी से देखा जा सकता है। सात पैसे कहानी सन् 1907 में प्रकाशित हुई थी जिसमें मानवीय भावनाओं, संबंधों और त्रासदियों का जायज़ा लिया जा सकता है।

हंगरी से अनुवाद: भारत भूषण अग्रवाल

सभी चित्र: उदय खरे: शौकिया चित्रकार, भोपाल में निवास।

यह कहानी - बारह हंगारी कहानियां, प्रकाशक: साहित्य अकादमी, नई दिल्ली से साभार।